॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

श्रीसुबोधिनी ग्रंथमाला ।

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितामूर्तिश्रीमद्वल्लभाचार्यचरण

विरचिता

श्रीमद्भागवतदशमस्कंध सुबोधिनी

(जन्मप्रकरण, प्रथमाध्याय)

—हिन्दीभाषानुवाद—

अनुवादक—

कृष्णकिशोर द्विवेदी "आयुर्वेदाचार्य"

प्रकाशक—

वैष्णव मित्र मंडल इन्दौर.

रथयात्रोत्सव आषाढ शुक्ल द्वितीया संवत् २००२

वल्लभाब्द ४६८ जुलाई सन् १९४५

॥ श्री नवनीत प्रियोजयति ॥

सौंदर्यं निजहृद्गतं प्रकटितम् स्त्रीगूढ़भावात्मकम्,
पुम्रूपञ्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत् स्वप्रिये ।
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयःकृष्णो हितत्साक्षिकम्,
रूपं तत्त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदावल्लभम् ॥

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डाधीश्वर परात्पर परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के असीम अनुग्रह से आज वैष्णव मंडल श्रीमदखंडभूमंडलाचार्य जगद्गुरु वैश्वानरावतार श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी का हिन्दी भाषानुवाद प्रकाशन ग्रंथ माला के रूप में रख रखा है ।

आजतक वैष्णवजनता को श्रीसुबोधिनी का अनुवाद केवल गुजराती भाषा में ही प्राप्त होता आ रहा था, इससे हिन्दी भाषी वैष्णव जनता अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को हृदयङ्गम करने में असमर्थता का अनुभव करती थी व कर रही है ।

आशा है मंडल के इस प्रकाशन से जनता अधिक से अधिक रुप में लाभ लेकर अपने जीवन को सफल बनाकर मंडल के उत्साह की अभिवृद्धि करती रहेगी ।

प्राप्तिस्थानः—

मंत्री—वैष्णव मित्र मंडल
श्रीगोवर्धननाथजी मंदिर
यशवन्तगंज इन्दौर सिटी

निवेदक—
कृष्णकिशोर द्विवेदी
प्रधान मन्त्री
वैष्णव मित्र मण्डल इन्दौर

संपूर्ण ग्रन्थमाला मूल्य २)
प्रदेश के लिये २॥)

श्रीमदखंड भूमंडलाचार्य जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य वंश्य
द्वितीय पीठाधीश गोस्वामि

श्री १०८ श्री गिरिधरलालजी महाराज
(नाथद्वारा)



सभापतिः–वैष्णव मित्र मंडल इन्दौर
के
चरण कमलों में



सादर–समर्पित.







॥ श्रीभागवतसमुद्रमथनक्षमायनमः ।

श्रीमद्भागवतदशमस्कंधपूर्वार्धजन्मप्रकरणीय

श्री सुबोधिनी हिन्दी भाषान्तर

निरोध लीला

(हृदय)

॥ श्रीसुबोधिनी कारिकाः ॥

नमामि हृदये शेषे लीला क्षीराब्धिशायनम् । लक्ष्मी सहस्र लीलाभिसेव्यमानं कलानिधिम् ॥१॥
चतुर्भिश्च, चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा । षड्भिर्विराजतेयोऽसौ पंचधा हृदये मम ॥ २ ॥
दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते । नवलक्षण लक्ष्योहि कृष्णस्तस्य निरुपणात् ॥३॥
आश्रयः क्रमभावित्वान्निरोधोवेति संशयः । लीला निर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रंतु दुर्बलम् ॥४॥
यथा कथञ्चिच्छ्रवणं सकल त्वायकल्पते । निरोधः प्रलयोलोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ॥५॥
प्रतीतो द्वादशेऽन्यत्र महत्वाच्छुद्धलीलया । सहितोह्याश्रयः स्कंधे प्रतिपाद्य इहेति चेत् ॥६॥

न हि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम् । नवलक्षण सापेक्षोह्याश्रयोरूप्यते कथम् ॥७॥
अग्रे लीलाद्वय कथा फलसिद्धौ वृथाभवेत् । पूर्वोत्तर स्कंधयोश्चनश्येत्कारण कार्यता ॥८॥
कृष्णस्त्वेकादशेप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतोभवेत् । निरोधोस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीड़नं हरेः ॥९॥
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् । नैमित्तिको निरोधोऽन्योधर्मग्लानिनिमित्ततः॥१०
सचात्र नैव सद्ग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम् । आद्यन्तयोरिहाभावान्मुक्तावप्यनुवृत्तितः ॥११॥
लक्षणस्याप्रवेशश्च लीलाधिक्यं तथाभवेत् । तदर्थं जन्म कथनं पृथा स्तोत्र विरोधिहि ॥१२॥
कार्य कारण हानिश्च प्रक्रान्त त्याग एव च । भक्तत्वाद्भुव उद्धारो भारहारान्निरूपितः ॥१३॥
प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैवहि । मर्दन क्लेश हानिः स्यदिति तस्याः समुद्यमः ॥१४॥
ब्रह्म रुद्रादिदेवानामत एवान्यसंश्रयः । भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः ॥१५॥
अतो निरोधो भक्तानां प्रपञ्चस्येति निश्चयः । यावद्बहिस्थितोवह्निः प्रकटो वा विशेन्नहि ॥१६॥
तावदन्तः स्थितोप्येष न दारु दहनक्षमः । एवं सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्नतद्विशेत् ॥१७॥
तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्ण समुद्यमः । रूपान्तरंतु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधान्निजान् ॥१८॥
प्रपञ्चाभावकरणादुज्जहारेति निश्चयः । पंचप्रकरणान्यत्रचतुर्भिर्जन्मसत्पतेः ॥१९॥
अष्टाविंशतिभिः पूर्वंतामसत्वाद्व्रजोद्धृतिः । तथैवराजसानांश्च यादवानांविशेषतः ॥२०॥
सात्विकानेक विंशत्या निः प्रपंचाँश्चकारह । भगवानेव नान्योत्रतदर्थंषड्भगाभिधाः ॥२१॥
चतुर्मूर्तेर्जन्मतोत्र तथाध्याया निरुपिताः । तत्तत्प्रकरणे तेषामुपयोगस्तु वक्ष्यते ॥२२॥
हेतूद्यमस्वीकरण कापट्यैः प्रथमो महान् । प्रद्युम्न श्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः ॥२३॥
हेतुश्चत्रिविधोह्यत्रगुणाभक्त हित प्रदाः । कंसादेः कालतोऽज्ञानात्त्रिधादुःखं तु तद्गतम् ॥२४॥
भूमिर्माता तथा चान्ये दुःख भाजो हरिप्रियाः । यथायोग्यं दुःखमेषामत्रै वेतिनिरूप्यते ॥२५॥
त्रयं भगवताशक्यं दूरीकर्तुमितीर्यते । प्रश्नोप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कंध द्वितयवर्तनः ॥२६॥
अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तस्वज्ञापकावुभो । अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थं श्रीशुकोवर्णयेत्कथम् ॥२७॥
अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते । प्राणनत्वंकथायाश्च दयासिद्धयै शुकस्यहि ॥२८॥
एवं प्रश्नोद्वादशभिः समतोगुणदोषगः ॥२८½॥



॥ श्रीकृष्णायनमः ॥

मंगलाचरण (कारिकार्थ)

श्रीमद्भगवद्वदन वैश्वानरावतार श्रीमद्वल्लभाचार्य दशमस्कंध के विवरण करने की इच्छा से स्कंधार्थरूप श्रीकृष्ण को नमन करते हैं:—

हृदयरूपी शेष के उपर, लीलारूपी क्षीरसागर में शयन करने वाले तथा हजारों (असंख्य) लक्ष्मिओं से सेवित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु को मैं वारंवार प्रणाम करता हूं। (१)

प्रकरण विभाग

स्कंधार्थ रूप श्रीकृष्ण को प्रणाम करके प्रकरणार्थ रूप को नमस्कार करते हैं।

इस दशमस्कंध में पांच प्रकरण है। प्रथम चार अध्याय का जन्मप्रकरण। दूसरा-प्रणाम, प्रमेय, साधन तथा फलभेद, इस प्रकार प्रत्येक सात-सात अध्याय का तामसप्रकरण है।

तृतीय प्रकरण—प्रमाणादि अवान्तर भेदयुक्त अट्ठाईस अध्याय का राजसप्रकरण है। चतुर्थप्रकरण—प्रमाणादि अवान्तर भेदयुक्त किन्तु साधन रहित इकीस अध्यायों का सात्विक-प्रकरण है। पंचम प्रकरण छः अध्याय का ऐश्वर्यादि गुण प्रतिपादक-गुणप्रकरण है।

इन पांच प्रकरण में चार (जन्म), चार (तामस), चार (राजस), तीन (सात्विक) तथा छः (गुण) इस प्रकार लीला के विभेद से विभक्त प्रकरणार्थ रूप जो ये श्रीकृष्ण-वे मेरे हृदय में विराजते हैं। (शोभित होते हैं) (२)

स्कंधार्थ

स्कंधार्थ, प्रकरणार्थ, एवं अध्यायार्थ यद्यपि निबन्ध में कथित है, तथापि यहां संक्षेप में पुनः विचार किया जाता है।

यहां श्रीकृष्ण का ही निरुपण होने से सर्गादि नव लक्षण (लीला) का लक्ष्य=नव प्रकार की लीला से युक्त श्रीकृष्ण ही है। (३)

पूर्वपक्ष—

यह दशमस्कंध भगवल्लीला निर्धारक होने से प्रथम "आश्रय" का ही निरुपण आवश्यक है. अथवा सर्गादि लीला क्रम से "निरोध" आवश्यक है? अर्थक्रम की अपेक्षा पाठ-क्रम दुर्बल होने से यहां आश्रय, ही हो सकता है निरोध, नहीं। "आश्रय" बाद में एवं, 'निरोध' पहले श्रुत होता है, व्युत्क्रम (विपरीतक्रम) से उसके फल की प्राप्ती नहीं होगी; ऐसी शंका भी निर्मल है। कारण कि "आश्रय" प्रथम हो और 'निरोध' बाद में हो अथवा "निरोध"

प्रथम हो एवं "आश्रय" बाद में हो किसी भी प्रकार का क्रम भेद हो फलप्राप्ति तो होती ही है। केवल क्रम से पदार्थों के योग्य एवं अयोग्य का विचार हो सकता है।

लोक में निरोध—"प्रलय" इस नाम से प्रसिद्ध है। वह "प्रलय" यहां (दशमस्कंध में) संभवित नहीं है; वह तो द्वादशस्कंध में ही है। इस दशमस्कंध में अंशी (भगवान् श्रीकृष्ण) की लीला का निरुपण होने से यह महान् है। इसलिये शुद्ध श्रीकृष्ण की लीलासहित "आश्रय" ही इस स्कंध का प्रतिपाद्य विषय होना चाहिए। (४, ५, ६)

(इस प्रकार का पूर्वपक्ष निरुपण कर श्रीमद्वल्लभाचार्य आगे सातवीं कारिका से समाधान प्रारम्भ करते हैं।)

उत्तरपक्ष—

सर्ग, विसर्ग आदि नवलक्षण की अपेक्षा को धारण करने वाले "आश्रय" का निरुपण प्रथम नहीं हो सकता।

सापेक्ष स्वरूप "निरोध" का ही प्रथम निरुपण आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हो तो नवलक्षण सापेक्ष "आश्रय" का निरुपण कैसे हो? (७) तथा जिस लीला का श्रवण करे उस उसके फल की प्राप्ति होती है। इस न्याय के अनुसार यदि "निरोध" लीला से पहले राजा परीक्षित् "आश्रय" (द्वादशस्कंध) का श्रवण करे तो; आश्रय का अभयरूपी फल उसे प्राप्त हो और यदि इस प्रकार हो तो मुक्ति एवं निरोध लीलावृथा हो जाती है; तथा पूर्व एवं उत्तर स्कंध का कार्य कारण भाव भी असंगत हो जाता है। (८) यदि ऐसा कहा जाय कि इस दशम-स्कंध में श्रीकृष्ण का वर्णन है इससे "आश्रय" होना आवश्यक है; किन्तु श्रीकृष्ण तो एकादशस्कंध में भी है, अतः क्रम प्राप्त "निरोध" की स्थिति ही उचित है।

निरोधलक्षण—

निरोध=अर्थात् श्री हरि की इस जगत् में क्रीड़ा। इसी को 'अनुशयन' भी कहते हैं।

अनुशयन=अर्थात् निरंतर स्थिति (अनु=पश्चात्, शयन=स्थिति) अर्थात् प्रभुस्वयं अपनी संपूर्णशक्तियों को स्थिर करके वे स्वयं भी स्थिर होते हैं (भक्तों के हृदय में) यही निरोध लीला है (९) इस सिद्धान्त के अनुसार निरोध शब्द का अर्थ करके अब पुनः "निरोध" का अर्थ जो लोग ऐसा करते हैं कि—निरोध-अर्थात् दुष्ट राजाओं का प्रलय (विनाश)।

इसका निराकरण आगे की कारिका द्वारा किया जाता है। धर्म ग्लानि [धर्म का नाश) के निमित्त श्री प्रभुद्वारा किया गया दुष्ट राजाओं का निरोध-वह प्रलय रूप (विनाशरूप) होने से इन दश प्रकार की लीलाओं से पृथक् है। (संकर्षण कार्यरूप है)

वह अर्थ यहां सत्पुरुषों को ग्राह्य नहीं है। क्योंकि आद्य जन्म प्रकरण में तथा अंतिम गुण प्रकरण में दुष्ट राजाओं का नाश वर्णित नहीं है; अतः वहां इस लक्षण का प्रवेश नहीं होता (इससे अव्याप्ति दोष होता है) और अन्य स्कंधों में उन दुष्ट राजाओं का नाश विहित होने से वहां यह लक्षण उपयुक्त माना जाय तो अति व्याप्ति दोष होता है। लक्षण का प्रवेश नहीं होने

से तथा लीलाओं की संख्या (दश संख्या से) अधिक होने से (दुष्टमारणरूपी ग्यारहवीं लीला) यह अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता है। (११½) दुष्टों के नाश के लिये प्रभु का प्राकट्य है। ऐसा कहा जाय तो प्रथमस्कंध में कुन्ती द्वारा की गयी स्तुति (तथा परमहंसानामित्यादि) में विरोध होता है। (१२) तथा कार्यकारणभाव की हानी एवं उपक्रम का त्याग होता है।

"दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिहलक्षणम्" इस वाक्य में नव लीलाओं का प्रयोजन एव दशमलीला की विशुद्धता बतलाई गई है, इससे इस वाक्य का भी त्याग आवश्यक हो जाता है। किन्तु प्रभु ने पृथ्वी का भार हरण किया, एवं भक्त रूपा पृथ्वी का निरोध (उद्धार) किया, (नहीं कि दुष्ट राजाओं का) इस प्रकार के कार्यकारण भाव में भक्तों का निरोध ही स्कंधार्थ है। (१३) जब परमानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम प्रकट होते हैं, तबही दैत्यों का मर्दन एवं क्लेश (दुख) की हानि होती है, और इसीलिये पृथ्वी ब्रह्मा द्वारा भगवत्सन्निधान प्राप्त करती है। अर्थात् शरण में जाती है। (१४) पृथ्वी भक्त है। इसलिये ब्रह्मा तथा रुद्रादि देव भी उसका आश्रय लेते हैं भक्तों का ही प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगदासक्ति रूप निरोध है। जबतक बहिःस्थिति अग्नि काष्ठ में प्रवेश नहीं करती तबतक काष्ठ में स्थिति अग्नि उस लकड़ी को जला नहीं सकती; उसी प्रकार जबतक सर्व व्यापक विष्णु प्रकट होकर भक्तों के हृदय में प्रवेश नहीं करते तबतक उसके देह इन्द्रियादिकों का विलय नहीं होता। (लौकिक को त्याग कर अलौकिक की प्राप्ति भी नहीं होती) अतएव यही श्रीकृष्ण के अवतार ग्रहण करने का हेतु है। प्रभु ने नट के समान रूप धारण किया है। (जन्म समय प्रथम चतुर्भुज रूप से दर्शन देने के पश्चात् पुनः बाल स्वरूप होना) इससे भगवान् ने तीनों प्रकार के (सात्विक, राजस, तामस) भक्तों का उद्धार प्रपंच की विस्मृति करवा कर किया यह निश्चित है। (१८½)

प्रकरण संगति.

इस दशमस्कंध में पांच प्रकरण है। उनमें प्रथम चार अध्यायों द्वारा श्री भगवान् पूर्ण-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का जन्म, एवं अट्ठाईस अध्यायों द्वारा व्रजस्थित तामस भक्तों का उद्धार तथा दूसरे अट्ठाईस अध्यायों द्वारा सात्विक भक्तों की प्रपञ्च विस्मृति विहित है। इस स्कंध में पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरुप श्रीकृष्ण स्वयं ही निरोध कर रहे हैं यह ज्ञान कराने के हेतु छः अध्याय गुण प्रकरण के विहित है। (२१)

जन्म प्रकरण संगति

प्रथम चार अध्यायों में जन्म प्रकरण है। उसमें चतुर्मूर्ति (चारव्यूह=वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) श्रीकृष्ण का जन्म होने से चार अध्याय है। उक्त अध्यायों का उपयोग उस-उस प्रकरण में ही कहा जायगा। (२२)

प्रथम जन्म प्रकरण में क्रम से-हेतु, उद्यम, स्वीकार एवं कापट्य के द्वारा प्रकरणों का वर्णन किया गया है। भगवान् महान् अंशी स्वरुप है। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव, संकर्षण इन चारों का प्रथम चार अध्याय में वर्णन है।(२३)

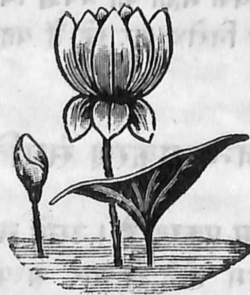
भगवान के अवतरित होने में हेतु भक्तों का दुःख है। वह दुःख तीन प्रकार का है। सात्विकादि गुण ही भक्तों को दुःख देने वाले है। (१) कंसादि द्वारा उत्पन्न किया गया दुःख। (२) कालरुप आकाशवाणी कृत दुःख। (३) भगवान् के अवतार का दुःख। १ भूमि २ माता ३ अन्य इस प्रकार उपर्युक्त तीनों दुःख तीनों भक्तों को क्रम से हुवे हैं। इन तीनों के दुःख को भगवान् ही दूर कर सकते हैं। इसलिए भगवान् का अवतार विषयक प्रश्न उपर बताये गये तीनों दुःखों से विशेष है।

इस प्रथमाध्याय में चार प्रकरण है— १ प्रश्न प्रकरण -२ पृथ्वी के दुःख का प्रकरण, ३ माता के दुःख का प्रकरण, ४ अन्य भक्तों के दुःख का प्रकरण।

प्रश्न प्रकरण में दशम एवं एकादश संबन्धी प्रश्न है।

"कथितो वंशविस्तारो,, इस श्लोक से नवमस्कंध का अनुवाद तथा "निवृत्त तर्षैरुपगीयमानात्" इत्यादि द्वारा स्तुती की गई है। यह अनुवाद एवं स्तुति श्रोता का भक्तत्व ज्ञापित (बोधित) करती है। श्रोता भक्त न हो तो श्री शुकदेवजी भगवल्लीला का वर्णन ही क्यों करें। परीक्षित् का श्रीकृष्ण विषयक अज्ञान एवं अन्यथा ज्ञान (विपरीत ज्ञान) का निराकरण किया जाता है।

भगवत्कथा रुपी अमृत भक्तों को जीवन देने वाला है ऐसा जो कहा गया है यह श्री शुकदेवजी की परीक्षित् के ऊपर "दया", सिद्ध करने के हेतु ही है। इस प्रकार बारह श्लोकों द्वारा प्रश्न है कारण कि छः गुण (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य) और छः दोष (मातुल मारणादि) इस प्रकार गुण एवं दोष दोनों उत्कट होने से गुण दोष की साम्यता है। इसीलिये राजापरीक्षित् ने गुणदोष दोनों को मिलाकर बारह प्रश्न किये हैं। २८½



। श्रीभागवतगूढार्थप्रकाशनपरायणायनमः ।

श्रीमद्भागवतदशमस्कधीय

श्रीसुबोधिनी

प्रश्नप्रकरण (अध्याय १)

मूलम्-राजोवाच—

कथितोवंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः ।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥१॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम ।

अर्थ—राजा परीक्षित् श्री शुकदेवजी से पूछते हैं कि—हे मुनिश्रेष्ठ ! आपने चन्द्रवंश एवं सूर्यवंश का (नवमस्कंध में) विस्तारपूर्वक वर्णन किया। तथा दोनों वंश में उत्पन्न राजाओं के परम अद्भुत आश्चर्य कारक चरित्रों का भी वर्णन किया एवं धर्मशील यदुराज का भी संपूर्ण चरित्र कहा।

श्रीसुबोधिनी

नवमस्कंध में भक्ति का वर्णन होने से राजा परीक्षित् के हृदय में श्रीकृष्ण लीला श्रवण की इच्छा उत्पन्न हुई। तब उसने उपर्युक्त डेढ़ श्लोक द्वारा पूर्व स्कंध में (नवमस्कंध में) वर्णन की हुई कथा का उल्लेख किया। नवमस्कंध में वर्णित राजाओं के भक्त होने के कारण ही श्रीशुकदेवजी ने उनका सविस्तृत वर्णन किया है।

नवमस्कंध में प्रथम सूर्यवंश तथा बाद में चन्द्रवंश का वर्णन है, अतः उपर्युक्त श्लोक में "सूर्यसोमयोः" इस प्रकार राजा को कहना आवश्यक था किन्तु यहां चंद्र-वंश विषयक प्रश्न होने से "सोमसूर्ययोः" इस प्रकार कहा गया है। श्लोक में "विस्तार" शब्द से सविस्तृत वंश का वर्णन किया गया है यह जाना जाता है। अतः वंश विस्तार संबन्धी प्रश्न में होनेवाले भ्रम का निराकरण "विस्तार" शब्द से किया गया है। सूर्यवंश एवं चंद्रवंश दोनों के वंश का वर्णन है इस बात कों प्रकट करने के लिये "सोमसूर्ययोः" यह शब्द कहा गया है। चंद्रमा रात्रि के तथा सूर्य दिन के अंधकार को नष्ट करता है, इसलिए "वंश विस्तारः"-शब्द का कथन भी उपयुक्त ही है।

पूर्वोक्त अभिप्राय को कहता हुआ राजा परीक्षित् अपने श्रोतृत्व का समर्थन करने के लिये "दोनों वंश के राजाओं के चरित्र वर्णन आपने किया" इस प्रकार कहता है।

वे राजा जन्म से ही भक्त थे; "वंश विस्तार" मात्र कहने से ही 'चरित्र' शब्द का भी बोध हो जाता है। किन्तु "चरित्र" शब्द के पृथक् कहने का कारण यह है कि उन राजाओं के

चरित्र अन्य जीवों के हृदय में भक्ति उत्पन्न करनेवाले हैं। अम्बरीष आदि राजाओं के चरित्र ऐसे ही हैं।

उपर्युक्त श्लोक में "च" (और) शब्द रखने का कारण यह है कि नवमस्कंध में भगवान् के चरित्र का भी प्रतिपादन है। यह समझना चाहिए। पुनः विशेष रूप से कथन एवं श्रवण हो इसी हेतु से 'परमाद्भुत" शब्द का निरूपण किया गया है। चरित्र अत्यंत अद्भुत होने से कथनीय एवं श्रवणीय है; यह भी इससे प्रदर्शित किया है।

परम–भगवान् से अथवा परमा–भक्ति से अद्भुत इस प्रकार का "परमाद्भुत" शब्द का अर्थ है ॥१॥

यदु ने पिता के आदेश का, उल्लंघन किया, इसलिये उसको अधर्मी कहना यह अनुपयुक्त है। जरा (वृद्धावस्था) भगवद्भजन में प्रतिबन्धक होने से मुख्य पिता (भगवान्) की सेवा के हेतु गौणपिता (लौकिक पिता) की आज्ञा का उल्लंघन किया यह उचित ही है। ऐसा विचार कर उपर्युक्त श्लोक में "यदोश्चधर्मशीलस्य" यह कहा है। कारण वृद्धावस्था में धर्म का नाश होता है. पुरु राजा के पिता ययाति ने अपने पुत्र से यौवन प्राप्त कर भोग विलास किया यह अत्यंत अयुक्त होने से भगवद्‌वतार के पूर्व ही पुरुवंश निवृत्त हो गया।

यदि पुरु का बीजजन्य वंश निवृत्त न हुआ होता तो उनके साथ भगवान् का सम्बन्ध (सुभद्रा से अर्जुन का विवाह) अनुचित कहा जाता। भीष्मवसु का अवतार है अतः उनके साथ का सम्बन्ध ठीक है। भीष्म को आसुरावेश होने से उनमें दोष है; इसीलिये आगे पांचवें श्लोक में उनको (भीष्म को) तिमिंगिल (सजातीय को भक्षण करनेवाला एक प्रकार का मत्स्य) स्वरूप से बताया गया है। दोष पुरु राजा कृत है। यदु तो स्वभाव से ही धर्मरूप है। इसलिये उनके वंश का सम्पूर्ण वर्णन उचित है।

राजा परीक्षित् श्री शुकदेजी को "मुनिसत्तम" इस शब्द से संबोधित करते हैं। मननशील "मुनि" कहा जाता है। तथा जिन्होंने ज्ञान भी संपादन किया है वे "सन्त" हैं, वे ज्ञानी यदि भक्त हो तो अति "उत्तम" है। पूर्वस्कंध के प्रश्न में राजा परीक्षित् "मुनिसत्तम" शब्द से शुकदेवजी को संबोधित कर उनमें ज्ञानित्व एवं भक्तत्व सिद्ध करते हैं।

मू०— तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणिशंस नः ॥२॥

अर्थ—उस यदुकुल में उत्पन्न विष्णु के पराक्रमों का वर्णन हमसे करिये।

श्रीसुबोधिनी

इस प्रकार पूर्व स्कंध का अनुवाद (वर्णन) करके राजा परीक्षित् भगवान् के चरित्र एवं पराक्रम के विषय में प्रश्न करते हैं।

उस यदुवंश में सर्वव्यापक-विष्णु प्रकट हुए। मूल में विष्णु शब्द का भाव सर्व व्यापक होने से "पूर्णपुरुषोत्तम", का प्राकट्य हुवा है यह जानना चाहिए। सर्वत्र प्रकट होने का प्रयोजन न होने से; और यदि व्यापक सर्वत्र प्रकट हो तो प्रपञ्च का विलय हो जाता है इसलिये उस वंश में देवकी के गृह में माया का उद्गम होने से प्रकट परमानन्द प्रभु ने उतने स्थान की ही माया दूर की इसलिए उपर्युक्त पद्य में अंश शब्द कहा गया है।

(अंश शब्द से मत्स्यावतार सदृश अंशावतार नहीं मानना।)
द्वितीय स्कंध विवरण में "अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसत्"
इत्यादि पद्य से उपर्युक्त विषय स्पष्ट है।

शास्त्र का अर्थ नहीं जानने से "अंश" एवं भगवत्पद शब्द से लोक में भ्रम उत्पन्न होता
है। अथवा इस तरह समझिये कि अंशावतार प्रद्युम्नावतार की प्रसिद्धी को लेकर ही "अंश"
शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रद्युम्नांश के साथ ही प्रभु का यदुवंश के साथ संबंध है।

अवतार—अर्थात् प्रभु का वैकुण्ठ से यहां (भूतल पर) पधारना। यह तत्व द्वारा भी
होता है। इस बात का निवारण करने के हेतु मूल श्लोक में "विष्णोः" इस शब्द का प्रयोग किया
गया है। महात्म्य ज्ञान के हेतु वीर्य (मू. वीर्याणि) पराक्रम का प्रश्न है। प्रभु के अचिन्त्य
ऐश्वर्य का बोध कराने के लिये चरित्र का प्रश्न किया गया है। उन प्रभु के चरित्र एवं पराक्रम
स्तुति (प्रशंसा) रूप से अपना अनुशासन रूप से कहो ऐसा राजा का कथन है।
(इस वाक्य द्वारा यह सिद्ध है कि चरित्र एवं पराक्रम श्रवण करने की राजा की महती
इच्छा है)

स्वतंत्र पुरुषार्थ प्राप्त करने के हेतु प्रभु के चरित्रों को ही पूछना यह प्रश्न व्यर्थ हो
जाता है। कारण कि मत्स्यादि अवतारों में ये ही प्रभु प्रकट हुवे थे और वहां उनके पराक्रम
एवं चरित्र वर्णित है। अतः ऐसी शंका का निराकरण करते हैं। ॥ २॥

मू० अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः
कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात् ॥३॥

अर्थ— प्राणी मात्र का कल्याण करने वाले श्री प्रभु ने यदुवंश में अवतार लेकर जो-
जो कार्य किये वे सब विस्तार पूर्वक कहिये।

श्रीसुबोधिनी

"यदुवंश में भगवान् ने अवतार लेकर जो जो पराक्रम किये हैं वे सब पराक्रम-चरित्र
कहिये., इस वाक्य में सम्बन्ध प्रदर्शित है।

श्री प्रभु के पराक्रम अधिक है, तथा श्रीप्रभु की स्थिति बहुत समय तक है यह बात
सूचित करने के हेतु "वंश" शब्द कहा गया है। प्रभु का सम्पूर्ण चरित्र धर्मात्मक है इसलिए
"यदु" शब्द विहित है।

"यदुवंशे" इस प्रकार समासयुक्त पद न कहकर "यदोर्वंशे" (यदु का वंश) समास रहित
पद कथन में यदु से भी अधिकता [वंश में] प्रदर्शित की गई है। व्यसन अथवा आवेशावतार
के निवारण के हेतु "भगवान्" शब्द कथित है।

राजा परिक्षित् ने "भूतभावनः" (प्राणीमात्र पर कल्याण करनेवाले) पद से अवतार का
प्रयोजन जितना वह जानता था प्रकट किया।

जीवों का पालन करनेवाले अथवा जीवों को ज्ञान युक्त करनेवाले भगवान् संसार में
रहते हुवे भी बंधन में नहीं आते हैं और इसीलिये भगवदवतार हैं। इस प्रकार अवतार

लेकर श्री प्रभु ने जो कुछ किया; श्री प्रभु यद्यपि इच्छामात्र से मुक्ति देने में समर्थ है तो भी [अवतार लेकर] जो जो कार्य किए हैं उनका आगे अनवतार [जब अवतार नहीं लिया गया हो] दशा में प्रयोजन है। [श्रीप्रभु जब अवतार ग्रहण करते हैं तब उस समय स्थित जीवों का मोक्ष होता है तथा बाद में उत्पन्न होनेवाले जीवों को उसी अवतार के कार्यों के गुणगान करवाकर मोक्ष प्रदान करते हैं। श्रीप्रभु अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा बिना अवतार ग्रहण किये ही दुष्टों का नाश तथा जीवों को मुक्ति दे सकते है, किन्तु अवतार ग्रहण करने में उपर्युक्त कारण ही है।] ऐसा स्पष्ट है और इसीलिए व्यासावतार भी है [व्यासजी के द्वारा भगवान् ने अपने चारित्र्य का चित्रण करवाया है, जिसका कि पठन एवं श्रवणकर जीव आज तक कृतार्थ होते आ रहे हैं।]

जो श्रीप्रभु के चरित्र जाने जा सके तो उनका उपयोग भी हो सकता है। (श्रीप्रभु के चरित्र ज्ञात कराने के हेतु ही व्यासावतार है) भगवान् विश्वात्मा है; वे सबका कल्याण करते ही है। यदि वे सबका कल्याण स्वतंत्र रूप से नहीं करे तो उनमें अन्योन्याश्रय दोष दिखाई देने लगेगा। [अन्योन्याश्रय- एक वस्तु से दूसरी का परस्पर सम्बन्ध। साधन के द्वारा फल की प्राप्ति इसमें साधन के आश्रित फलप्राप्ति है तथा फलप्राप्ति के आश्रित साधन है इस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कहा जाता है।]

यदि भगवान् भी इसी प्रकार किसी के आश्रित हो जाय तो उनमें आश्रित दोष उत्पन्न हो जाता है, इस दोष के निवारण के हेतु ही उपर्युक्त मूल श्लोक में "विश्वात्मा" पद रखा गया है। विश्वात्मा अर्थात् संपूर्ण प्राणीमात्र का स्वतंत्र रुप से कल्याण करनेवाले। श्री चतुःश्लोकी में भी कहा गया हैं कि—"प्रभुः सर्व समर्थो हिततोनिश्चिन्ततां-व्रजेत्" श्रीप्रभुसर्व सामर्थ्ययुक्त हैं अतः वे विश्वात्मा ही हैं। इसीलिये "विश्वात्मा" पद कहा गया है। यद्यपि द्वितीय स्कंध में श्रीप्रभु के चरित्र वर्णित है तथापि यहां 'विस्तरात्' इस पद से विस्तारपूर्वक कथन की सूचना है। इस प्रकार भगवान् के चरित्र एवं पराक्रम विषयक प्रश्न करके आगे भगवन्माहात्म्य तथा चरित्र माहात्म्य कहते हैं। भगवन्माहात्म्य दो प्रकार का है— अदृष्ट, तथा दृष्ट। उसमें प्रथम चरित्र माहात्म्य कहते हैं।॥ ३॥

मू०— निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।

क उत्तम श्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विनापशुघ्नात् ४

अर्थ— परीक्षित् प्रश्न करते हैं कि—जिनके अंतःकरण के दोष निवृत्त हो गये हैं (निकल गये हैं) ऐसे भक्तों द्वारासमीप में गाये जानेवाले, संसार के औषध स्वरूप, एवं श्रोत्रेन्द्रिय तथा मनको प्रिय, उत्तम पुरुषों द्वारा स्तुत्य ऐसे प्रभु के गुणानुवाद से पशुघ्न विना अन्य कौन पुरुष विरक्त हो सकता है? [अर्थात् कोई नहीं केवल पशुघ्न ही विरक्त हो सकता है।]

श्री सुबोधिनीकारिका—स्वरुपात् फलतश्चापि महापुरुष योगतः।

विषयोत्तमतश्चापि चरित्रं परमं मतम्॥ १॥

मुक्तस्य कार्यमेतद्धि मुमुक्षोर्भव नाशकम्।

अनिद्य विषयश्चायं विरक्तोऽस्मिन्यतेद्ध्रुवम् ॥ २ ॥
आत्मघाती कर्मजड़ो निन्दितार्थरतः सदा ।
पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेद्विरक्तो न ततः पृथक् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ-'निवृत्ततर्षैः' इस श्लोक में गुणानुवाद के तीन विशेषण है। (१) जिनके अन्तःकरण के दोष निवृत्त होगये हैं। इससे भक्तों द्वारा समीपमें गाये जानेवाले स्वतंत्र पुरुषार्थ की सूचना होने से 'स्वरुपतः', (स्वरुपसे) महापुरुषयोग[महापुरुष=भगवान्-उनका, योग=सम्बन्ध]कहा गया है। (२) "भवौषधात्"=संसार का औषध, यह विशेषण फल साधनत्व सूचित करता है। इसमें "फलतः" (फलसे) महापुरुष योग कहा गया है, और(३)'श्रोत्रमनोऽभिरामात्' इस तृतीय विशेषण से श्रोत्र विषयक चरित्रों का विषयोत्तमत्व (विषय—शब्द स्पर्श, रुप, गंध, इनमें उत्तम] निरूपण किया गया है।

इन तीन विशेषणों से भगवच्चरित्र परम है, यह प्रतिपादित किया है। जिस प्रकार भगवच्चरित्र उत्तम है उसी प्रकार उनके गुणों का गान भी उत्तम है। ब्रह्मानन्द से भी अधिकरस स्वरूप चरित्रों का गुण-वर्णन करना यह कार्य जीवन्मुक्तों का है। इन भगवच्चरित्रों का गान जीवन्मुक्त ही कर सकता है, यह बात प्रथम विशेषण [निवृत्त-तर्षैरुप-गीयमानात्] से बतलाई गई है। यदि मुमुक्षु भगवद्गुण गान करे तो उसका संसार [अहंताममतात्मक] नष्ट हो जाता है। यह विषय द्वितीय विशेषण से दर्शित है तथा तृतीय विशेषण से भगवच्चरित्र का अनुवाद [गान] करना यह अनिन्द्य विषय है; यह सिद्ध है।

भगवच्चरित्र श्रवण में अथवा भगवद्गुण गान में जो विरक्त होता है, उसका अधःपतन निश्चित है [इसलिये संसार से विरक्त हुवे जीवों को निश्चयपूर्वक भगवच्चरित्र श्रवण एवं भगवद्गुणानुवाद में प्रयत्न करना चाहिये ॥४॥

भगवच्चरित्र श्रवण या गुणगान से विरक्त रहनेवाले जीव आत्मघाती, कर्मजड़ [कर्तव्य-विमूढ़] निन्दितार्थरत [निन्दितकार्यों में आसक्त] स्त्री अथवा पशुघ्न [असुर] ही होते है।

—ः श्री सुबोधिनी ः—

प्रथम यह भगवच्चरित्र फलरूप है इस प्रकार कहते हैं।

जिनके अन्तःकरण की दोषरूप तृषा निवृत्त हो गयी है (नष्ट हो गयी है) अर्थात् जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं ऐसे भक्तों के द्वारा ही प्रभु का चरित्र गाया जा सकता है। जिनके हृदय में थोड़े से भी दोष शेष हों वैसे जीव भगवद्गुणगान में असमर्थ होते हैं। भक्तों द्वारा भगवद्गुणगान समीप में ही गाया जाता है अतः अन्यत्र जाने का प्रयास भी नहीं करना पड़ता है तथा श्रवणानन्द प्राप्त होने से विषयानुभव का प्रयास करने की भी जरूरत नहीं रहती है। मूल श्लोक में निवृत्ततर्षैः" यह शब्द बहुवचनान्त है अतः इससे यह प्रदर्शित किया गया है कि गुणगाण करनेवाले भक्तजन भी अनेक हैं; अनेक भक्तों द्वारा गुणगान होने से चरित्र का आवर्तन भी होता है तथा इससे निवारण होने योग्य दोष भी निवृत्त हो जाते हैं। भगवद्विषयक कामादि अनिवार्य दोष है [भगवत् स्वरूप प्राप्ति की कामना आदि अनिन्द्य है। वे कामादि वे दोष फलरूप है उनका निवारण नहीं होता] दोष आगे फल रूप होते हैं।

भगवच्चरित्र स्वतंत्र फलरूप होने से सर्वत्र भगवदीय [भक्त] आकर गान करते हैं।

उपर्युक्त वाक्य में गान करनेवाले का रसमें अभिनिवेश = विशेष अधिकार प्रदर्शित किया गया है। भगवच्चरित्र—वक्ता को फलरूप तथा श्रोता के दोषों का निवारण करनेवाला है।

"भवौषधात्"[संसार का औषध, संसार के दोषों से मुक्त करानेवाला] इस विशेषण से भगवच्चरित्र फल साधक है यह बतलाया गया है। संसार का निवर्तन भगवच्चरित्र से होता है। भगवच्चरित्र संसार निवर्तक होने से जीवों का उपकार करनेवाला है इसलिए भगवच्चरित्र गान करना चाहिये।

कर्मज्ञान, तथा भक्ति से भी अधिक परम साधन, श्रोता को मोक्ष देनेवाला यही है। जिस प्रकार औषधि शरीर के भीतर प्रवेश करके ही रोग निवृत्ति करती है, उसी प्रकार भगवच्चरित्र रूपी औषधि भी श्रवण द्वारा शरीर में प्रवेश कर के संसार रोग की निवृत्ति करती है।

यद्यपि भगवच्चरित्र का फल साधनत्व ही कथन के योग्य है तथापि यदि भगवच्चरित्र श्रवण को तथा मन को प्रियकर नहीं हो तो उस श्रवण से उत्पन्न होनेवाले फल की प्राप्ति भी सम्भवित नहीं है; इसीलिये मूल श्लोक में "श्रोत्रमनोऽभिरामात्" यह तृतीय विशेषण कहा गया है।

इस विशेषण द्वारा विषयत्व से [कर्ण एवं मन के प्रिय] चरित्र श्रवण में प्रवृत्ति का द्योतन होता है अतः यह निन्दनीय कहा जासकता है किंतु यदि भगवच्चरित्र श्रवण तथा मन को प्रियकर न हो तो संपूर्ण पुरुषार्थ [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] को सिद्ध करनेवाले भगवच्चरित्र श्रवण में प्रीति नहीं हो सकती अतः उपर्युक्त विशेषण कहा गया है।

श्रोत्र [कर्ण] एवं मन को अभितः=चारों तरफ से, रमण कराता है [संपूर्ण अन्य विषयों में से निवृत्त करके श्रवण में ही आसक्ति कराता है] तथा श्रोत्र एवं मन को प्रियकर होने के कारण हृदय में प्रवेश कर अंतःकरण के दोषों को नष्ट करता है।

जिनके अंतःकरण में चरित्र प्रविष्ट नहीं होता वे जीव आसुरी है; आसुरी दोषों का निवारण नहीं हो सकता अतः आसुरी के अन्तःकरण में भगवच्चरित्र प्रविष्ट होता ही नहीं। "उपगीयमानात्" अर्थात् समीप में गाया जाता है, इसलिये श्रवण अप्राप्य है ऐसा नहीं कह सकते। उप' [समीप] उपसर्ग द्वारा अप्राप्ति दोष का निवारण है। तथा गान करनेवाले[शुकदेवादिक]तृषादि अंतःकरण के दोषों से रहित है; अतः श्रवण करने में उनको धन नहीं दिया जाता है। तृषा का अभाव होने से धनार्पण दोष की निवृत्ति होती है।

"गीयमानात्" शब्द द्वारा गान का निरुपण है। गान शब्द के द्वारा शब्दों में मधुरता निश्चित है। शब्द-माधुर्य ही गान कहा जा सकता है।

अनेक समय अनुभव में आये हुये जन्म-मरण के दुःख का निवारक यह चरित्रगान होने से इसका सेवन अत्यंत आदर सहित करना चाहिये।

गान होने से कर्ण को अप्रिय भी नहीं है तथा इसका परिणाम भी मनोहर है। "अभितः रमणम्" अर्थात् भगवच्चरित्र गान परलोक पर्यन्त रमण करनेवाला है तथा भगवदासक्ति कराने

वाला है। इस प्रकार रूप गुण तथा कार्य के द्वारा भगवच्चरित्र की उत्कृष्टता सिद्ध कर आगे
सम्बन्ध द्वारा उत्कृष्टत्व प्रदर्शित करते हैं।

"उत्तम-श्लोक-गुणानुवादात्" भगवद्गुणानुवाद उत्तम पुरुषों द्वारा वर्णन किया जाता है अथवा उत्तम श्लोक भगवान् के महात्म्य को प्रसिद्ध करनेवाले गुणों का अनुवाद श्री शुकदेवजी करते हैं। यह भगवदनुवाद भागवतादि रूप है।

भगवान् के द्वारा दोष रहित भक्तों का उत्कर्ष [उन्नति] है तथा भगवान् के उत्कर्ष को ज्ञापन करनेवाले गुण है। गुणों का उत्कर्ष अनुवाद से होता है। यह विषय "उत्तम श्लोक गुण तथा अनुवाद" इनतीनों का मूल श्लोक में एक पद में स्थित होना सिद्ध करता है।

"पुमान् विरज्येत् विना पशुघ्नात्' [पशुघ्न तथा स्त्री के बिना अन्य कौनसा पुरुष विरक्त हो सकता है ?]

इस वाक्य में "पुमान्" शब्द स्थापित करने में यह कारण है कि-पशु अवतार में अथवा स्त्री के अवतार में जो जीव है वे अधिकारी नहीं है। यदि स्त्रियाँ श्रवणादि में आसक्त होवे तो वे निमित्तवश [कारणवश] ही स्त्रियां है स्वभाव से वे पुरुष ही हैं। अतः अन्य कोई पुरुष विरक्त नहीं हो सकता। चरित्र का गुणगान तथाश्रवण इससे अधिक अन्य कोई रस वैराग्य उत्पन्न नहीं कर सकता है।

"पशुघ्न" शब्द के द्वारा दैत्यत्व बोधित है; जो पशुओं का घात करनेवाले हैं वे दैत्य है। दिति के आख्यान में दैत्यों में स्वभाव से ही दया का अभाव होता है यह प्रतिपादन किया है। दैत्य हमेशा भगवद्विरोधी है। इससे उनके दोष निवृत्त नहीं होते है। दैत्यों के दोषों की जब अत्यंत निवृत्ति होती है तबही उनकी मुक्ति हो सकती है।

दैत्य का आवेश किसी में होतो—आवेश का आधार भूत आवेशी का तो मोक्ष होता होता ही है (जैसे-कंस में काल नेमि दैत्य का आवेश हुआ किंतु मुक्ति आवेश का आधार भूत आवेशी कंस की ही हुई) दैत्यों की मुक्ति तो 'तम' ही है; जहां से वे पुनः नहीं आसकते हैं।

यह सब इसलिये कहा गया है कि भगवच्चरित्र श्रवण तथा गान से विरक्त हुवे पुरुष को देखकर अन्य कोई विरक्त न हो जाय ॥४॥

इस प्रकार भगवच्चरित्र की स्तुति करके वह चरित्र पुण्य द्वारा पुरुषार्थ साधक नहीं है अपितु वह तो साक्षात् पुरुषार्थ साधक है यह प्रकट करने के हेतु आगे दो श्लोकों द्वारा भगवन्माहात्म्य कहते हैं—

मू०—पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः ॥५॥

अर्थ—युद्ध में देवताओं को जीतनेवाले, अतिरथ (एकही योद्धाद्वाशहजार सैनिकों के साथ युद्ध कर सके तथा शस्त्र शास्त्र में भी प्रवीण हो वह अतिरथ कहा जाता है) तिमिंगिल, (अपनी जाती को ही भक्षण करनेवाला एक प्रकार का मत्स्य) के समान भीष्मादि के द्वारा अगाध कौरवों के सैन्य को मेरे पितामह श्रीकृष्ण रूपी नौक से वत्सपद सागर के समान बनाये

(बछड़े के पांव से बना हुआ गड्ढा) के समान बनाकर पार हो गये। (उन श्रीकृष्ण के पराक्रम को कहिये)

श्री सुबोधिनी

"मेरे पितामह पाण्डव युद्ध में दुरत्यय कौरवों के सैन्यसागर को वत्सपद बनाकर जिस नौका से पार हो गये, इस वाक्य से सम्बन्ध प्रदर्शित है। (पांडव तथा परीक्षित् में) पांडवो का एकही पौत्र शेष है। इसके पांचही पाण्डव पितामह हैं अथवा तीन [कुन्ती पुत्र ही]। क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले का संबंध जिसका क्षेत्र हो उसीसे होता है नहींकि जिसका बीज हो। (कुन्ती रूपी क्षेत्र में बीज-धर्म, वायु, इन्द्र का था किंतु क्षेत्री राजा पाण्डु थे अतः पाण्डव ही पितामह हुवे तथा वे भी तीन पाण्डव; क्योंकि अन्य दूसरे पाण्डवों का क्षेत्र (माद्री) प्रथक् था।)

युद्ध के लिये यहां "समर" शब्द प्रयुक्त है। समर शब्द में स+मर=अर्थात् मरण सहित जो युद्ध हो वह समर कहा जाता है। युद्ध में मरण अवश्य ही होता है तथापि मेरे पितामह में से किसी का भी मरण नहीं हुवा। इसमें भगवत् संधि [भगवान् की समीपता] का ही माहात्म्य है। "अमरञ्जयैः" अर्थात् देवताओं को भी जीतनेवाले भीष्मादि थे किंतु वे इन्द्रादि देवों के पुत्र अर्जुनादि को नहीं जीत सके, इसी प्रकार देवताओं द्वारा दिये गये शस्त्र भी भीष्मादि का प्रतीकार नहीं कर सके किंतु इससे उनका "अमरञ्जयत्व" जाता नहीं। देवताओं के समान सत्य संकल्प रूप व्रतवाला "देवव्रत" कहा जाता है। यद्यपि भीष्म 'देवव्रत, थे तथापि भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने से वे "दैत्यव्रत" हुवे, यह सामर्थ्य कौरवों का है। भीष्म देवव्रत नामसे प्रसिद्ध है किंतु कौरव सैन्य में भीष्म मुख्य होने से अन्य द्रोणादि भी "देवव्रत" ही है। वे सब योद्धा "अतिरथ" होने से अतिशय अलौकिक सर्व सामर्थ्य युक्त है। ये भीष्मादि तिमिंगिल (मत्स्य) के समान है। तिमि नामक मत्स्य जो कि शतयोजन का होता है उसे भक्षण करनेवाला तिमिंगिल नामक मत्स्य उससे भी हजार गुणा बड़ा होता है। तिमिंगिल सजातीयों को ही भक्षण करनेवाला है। तिमिंगिल समुद्र में गिरे हुवे सजातीय का भी नाश करता है तो विजातीयों को तो छोड़े ही क्यों? देवव्रतादि दैत्यावेश से अत्यंत क्रूर थे इससे वे सम्बन्धियों को अथवा अपने पौत्रों को छोड़दे ऐसा नहीं हो सकता। दैत्यावेश होने से उनमें विचार या विवेक था ही नहीं। निगलनेवाले तिमिंगिल मत्स्य के समान वे भी सजातीयों के नाशक वंश विच्छेदक ही थे। वे मत्स्य (भीष्मादि) बहिःस्थितो को भी मारते है तो फिर अपने समुद्र में (सैन्य रुपी समुद्र) स्थित को छोड़े ही कैसे? इसीसे कौरव सैन्य रूपी सागर दुरत्यय था। सागर को पार करने के साधन नौकादि का भी ये मकर नाश करते हैं; कुरुवंश में उत्पन्न हुए पीछे हटते ही नहीं है। सागर स्वयं अचेतन है अतः वह नौकादिका नाश नहीं कर सकता है किन्तु उसमें स्थित चेतन जीव उसका नाश करते हैं; यहां तो कौरव सैन्य रुपी सागर स्वयं चेतन है अतः सम्पूर्ण साधनों का स्वयं ही नाश करता है। तथापि भगवान् जिनकी नौका है उसका नाश कौन करे? प्लव=अर्थात् छोटी नौका मूल में प्लव शब्द के द्वारा अन्य साधन की भी सूचना है।

किंतु भगवत्संनिधान होने से उनका ही रक्षकत्व है। इसलिये अल्प साधनत्व है कारण कि भगवान् ने स्वयं युद्ध नहीं किया है केवल समीप में रहकर रक्षण ही किया है।

अगाध समुद्र को पार करने में छोटी नौका से काम नहीं चलता इस शंका को निवारण करने के हेतु "वत्सपद" शब्द कहा गया है। पाण्डव लोग उस सागर को "वत्सपद" (वछड़े के पांव से उत्पन्न होनेवाले गढ्ढे के समान) बनाकर पार हुवे; वत्सपद द्वारा सागर को तुच्छ बना दिया है इसमें भगवदाश्रय ही मुख्य है। श्रीभगवद्गीता में भगवान् ने भीष्मादिकों को मरे हुवे सूचित किये हैं (मयैवैतेनिहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भवसव्यसाचिन्=इनको मैंने प्रथम ही मार दिये हैं। हे सव्यसाचिन् तू केवल निमित्तमात्र हो) इससे कौरव सैन्य सागर तुच्छ हो गया तथापि उन पाण्डवों का सुदृढ़ आश्रय न होने से वत्सपद में भी नौका की आवश्यकता हुई कारण कि वे चींटी के समान थे। प्रभु को पाण्डव लोग अपने समान ही जानते थे यदि उनमें भगवद्भाव होता तो ऐसा होता ही कैसे ?

प्रभु ने-अश्वत्थामा, कृप, तथा कृतवीर्य की अवस्थिति से दुरत्यय ऐसे कौरव सैन्य सागर को तुच्छ बना दिया। भगवान् ने अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गये पांचों बाणों से रक्षण किया तथा पाण्डव उस कौरवों के सैन्य सागर को वत्सपद बनाकर पार हुवे; ये दोनों कार्य अलौकिक हैं तथा एक साथ ही किये गये हैं। तीन पितामह (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन) में से किसी का भी मरण नहीं हुआ यही सागर का वत्सपदत्व है। अश्वत्थामा ने दो वार अपकार किया प्रभु ने उसका दोनों वार विदारण किया। पाण्डव नाव में बैठकर समुद्र (सेना) का शोषण करते हुवे अंत में कुछ शेष छोड़कर पार हो गये।

उनको कीर्ति भी प्राप्त हुई। यह भी प्रभु का अत्यन्त अलौकिक प्रताप है।

इस प्रसंग द्वारा यह कहा गया है कि-पाण्डवों के समान ही भगवदाश्रित भगवदीय भगवत्सेवा के लिये संसार के पदार्थों का परिग्रह स्थापित करके पारस्थित भगवान् को प्राप्त करते हैं। (५)

मू०- द्रौण्यस्त्र विप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तान बीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिंगत आत्तचक्रो मातुश्चमेयः शरणं गतायाः ॥६॥

अर्थ—अश्वत्थामा के अस्त्र से दग्ध हुवे कुरु, पाण्डवों के संतान का बीज, ऐसे मेरे इस अंग का—शरण में आयी हुई मेरी माता की कुक्षि में स्थित चक्रधर भगवान् श्रीकृष्ण ने रक्षण किया ॥६॥ (उन श्रीकृष्ण का चरित्र मुझसे कहिए)

श्रीसुबोधिनी

राजा परीक्षित् उपर्युक्त पद्य द्वारा अपने उपर भगवान् की अतिशय कृपा है यह प्रदर्शित करते है कि-जो कार्य करने में पाण्डव असमर्थ हुवे वह कार्य भगवान् ने स्वयं किया। अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा तथा उससे भगवान् ने रक्षण किया। इसवाक्य द्वारा द्रोणाचार्य का माहात्म्य तथा मरण उभय सूचित किया गया है; द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या में मूलभूत थे यह उनका महत्व है तथा उनके मरजाने पर ही वदला निकालने के हेतु अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। इससे उनका मरण सूचित हुवा। वदला लेने के हेतु से छोड़े गये अनिवार्य (पीछे वाविस नहीं जानेवाले) ब्रह्मास्त्र के द्वारा ही मेरा यह शरीर दग्ध हुवा। अर्जुन वैष्णव थे इसलिये उनके वंश का बीज शेष रहा। (ब्रह्मास्त्र द्वारा नष्ट नहीं हुवा)

वंश के अभाव में मुक्ति नहीं होती है तथा कौरवों को मुक्ति दी गई हैं; इसीलिये मूल श्लोक में "कुरुपाण्डवानाम्" (कौरव तथा पाण्डवों का संतान बीज) ऐसा पद कहा गया है। कुरु पाण्डव अर्थात् कौरव सहित पाण्डव।

बीज भाव से स्थित देह के दग्ध हुवे अंशों की भी अदग्ध भाव से प्रतीति करवा कर स्थूल अंश सहित देहनिष्ठ वैष्णवांश बीज का रक्षण अशक्य हो जाता। मेरे शरीर का दाह होने देने में कारण धर्म रक्षा है तथा दूसरा कारण यह है कि यदि दाह होने दिया जाता तो मर्यादा-मार्गीय मोक्ष प्राप्ति में प्रतिबन्ध होता।

मूल श्लोक में "इदम्" शब्द द्वारा अपने शरीर की अविकलता दिखलाई है।

"मदङ्गम्" (मेरे शरीर का) इस पद द्वारा स्वानुभव प्रकट किया है। (श्रीकृष्ण ने मेरे शरीर का रक्षण किया इससे यह अविकल रहा यह स्वानुभव दिखलाया है) "संतान बीजम्" इस पद द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि उस समय यह मेरा शरीर पाडवों की संतान का बीज था अतः रक्षण किया। किन्तु अब इससे (ब्राह्मण के श्राप से) रक्षण नहीं किया।

"कुरुवंश में उत्पन्न हुवे जो पाण्डव" इस वाक्य में मूल से ही भक्तत्व सिद्ध किया है। अतएव उनके वंश का रक्षण किया।

प्रभु उस समय किसी-अन्य प्रकार से मेरी रक्षा नहीं कर सके इससे मेरी माता की कुक्षि में स्थित होकर ही रक्षा की। हाथ में चक्र धारणकर अपने तेजस् तत्व सहित दर्शन करवाया जिससे कि बाद में भी यहां ध्यान रह सके। यह भी प्रभु का उपकार ही है।

ब्रह्मास्त्र का निवारण गदा से भी हो सकता था किन्तु चक्र धारण करने में यही कारण है कि= बाद में भी स्मरण में रह सके, अथवाकाल का निग्रह करने के हेतु चक्रधारण किया; यह समझिये। इसके पश्चात् उत्तरा की कुक्षि में स्थित होने का प्रयोजन न होने से वहां से निवृत्त हुवे उसी समय प्रभु के भ्रमणशीलचक्र ने मेरे चारों ओर भ्रमण कर मुझे कालचक्र में बांध लिया; उस ही काल के आधीन मैं हुवा हूँ इसी लिये अभी मेरी ऐसी अवस्था है। प्रभु मेरी माता के लिये गम्य थे (जाने के योग्य अर्थात् प्रभु की शरण में मेरी माता गई थी) तथा मुझे भी। मेरी माता प्रभु की शरण में गई इसलिये प्रभुदर्शन तथा कुक्षि प्रवेश दोनों कार्य हुवे। माहात्म्य का अनुभव होने से आप जो चरित्र कहेंगे उसमें मेरा विश्वास होगा ॥६॥

इस प्रकार राजा अपने को भगवच्चरित्र श्रवणाधिकारी बोधित करके; पहले पूछे हुए भगवच्चरित्र को फिर प्रकारान्तर से फल साधक है इस प्रकार कहते हुए राजा पुनः अनुवाद करते हैं।

मू०— वीर्याणि तस्याखिल देहभाजामन्तर्बहिः पुरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च माया मनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥७॥

अर्थ—हे विद्वन्। संपूर्ण देह धारियों के अन्तर तथा बहिः; पुरुष तथा कालरूप द्वारा अमृत एवं मृत्यु प्रदान करनेवाले उस मायामय मनुष्य के वीर्य-पराक्रम-चरित्र कहिये। ७।

अन्य टीकाकार इस प्रश्न को प्रथम पूछे गये प्रश्नों से प्रथक् मानते हैं, वे लोग कहते हैं कि—प्रभु ने जो चरित्र मनुष्य भाव से किये हैं, वे चरित्र सार्वजनिक है वे पहले पूछे

गये हैं। एवम् जो अवतार सम्बन्ध रहित वरुण लोक में जाकर नन्दादि को छुड़ाना तथा वैकुण्ठ प्रदर्शन आदि चरित्र है, वे चरित्र यहां प्रश्न का विषय है।

इस प्रकार होते हुवे इस चरित्र का अमृतत्व संपादनत्व रूप आगे कहा जायगा। वह ही फल होता है अन्य नहीं इसलिये वही चिन्तनीय है। उस कृष्ण के संपूर्ण देह धारियों के अंतर तथा बहिःभेद से पुरुष तथा काल रूप द्वारा अमृत एवं मृत्यु प्रदान करते हुवे पुरुषोत्तम के ही माया मनुष्य के रूप में किये गये चरित्र कहो। ऐसा सम्बन्ध है।

इससे भगवान् के इस अवतार में (कृष्णावतार में) दो रूप प्रदर्शित है—१ मूल रूप २ अवतार रूप, यह अवतार रूप ही मूलरूप है। इससे राजा ने माहात्म्य भी प्रदर्शित किया है। अर्थात् श्रीकृष्णावतार ही मूलरूप है यह बात प्रकट करने के हेतु ही मूलश्लोक में "तस्य" पद कहकर चरित्र विषयक प्रश्न किया गया है। इससे माहात्म्य प्रकट होता है। पुरुषरूप से अमृतदान तथा कालरूप से मृत्यु दान करते हैं। भगवान् के बिना अन्य किसी के द्वारा अमृत वा मृत्यु प्राप्त होती ही नहीं। संपूर्ण देहधारियों के श्रीकृष्ण ही आत्मा रूप है। तथापि निमित्तवश मृत्यु प्रदान करते हैं।

कई लोग पुरुषरूप का अर्थ मत्स्यादि अवताररूप तथा कालरूप का अर्थ "विषय" ऐसा करते हैं। दूसरे लोग पुरुषरूप का अर्थ भगवद् ध्यान रूप तथा कालरूप का अर्थ ब्रह्म के महत्‌रूप से लेकर छोटे तृणरूप तक ऐसा करते हैं। यद्यपि संपूर्ण ही रूप भगवान् के हैं तथापि—अन्तः और बहिःभेद से विशेषता है; इसीलिये मूलश्लोक में "अन्तर्बहिः" इस प्रकार का पद है।

इसीलिये किसी भी प्रकार के साधनों द्वारा बहिर्मुख जीव मृत्यु को प्राप्त करते हैं। तथा अन्तर्मुख (स्वमार्गनिष्ठ) जीव अमृत प्राप्त करते हैं। क्या यह उनका स्वाभाविक सामर्थ्य है अथवा अन्तर्बहिः भाव का फल या मर्यादा के लिये भगवान् ऐसी इच्छा करते हैं? इस प्रकार के सर्व संदेहों का निवारण उनके चरित्र का ज्ञान होने पर ही होता है अतः वह चरित्र अवश्य ही श्रवणीय है। इसका निर्णय गोकुल वासियों के वैकुण्ठ गमन से ही हो सकता है। श्रीकृष्ण मनुष्य है वे तो अमृत तथा मृत्यु का दान कैसे कर सकते हैं? ऐसी शंका उत्पन्न हो तो उसके निवारण के हेतु मूलश्लोक में "मायामनुष्यस्य" (प्रभु माया मनुष्य का रूप है) पद कहा गया है। माया बुद्धि पर आवरण करती है; प्रभु में पुरुषोत्तमत्व बुद्धि का आवरण करके मनुष्यत्व बुद्धि उत्पन्न करती है इसी कारण से लोक श्रीकृष्ण को मनुष्य मानते हैं। मूलमें "वदस्व" इस आत्मनेपद रूप द्वारा यह प्रकट किया गया है कि—हे शुकदेवजी जो आप भगवद्वीर्यों का कीर्तन करेंगे उसका फल केवल हमें ही प्राप्तहोगा ऐसा नहीं किन्तु कीर्तन का फल आपको भी प्राप्त होगा ही; आप विद्वान् है अतः आप सब जानते ही हैं, अतः मुझसे कहिये। इस प्रकार भगवच्चरित्र संबंधि प्रश्न करके आगे संदेह युक्त तथा युक्ति विरुद्ध प्रश्न करते हैं।

क्रमशः

मुद्रक—सी. एम. शाह, मॉडर्न प्रिन्टरी, खजूरी बाजार; इन्दौर सिटी.